BHARTIYA BHASHA, SIKSHA, SAHITYA EVAM SHODH

भारतीय भाषा, शिक्षा, साहित्य एवं शोध

ISSN 2321 – 9726

An Internationally Indexed Peer Reviewed & Refereed Journal

WWW.BHARTIYASHODH.COM
www.isarasolutions.com

Published by iSaRa Solutions

भक्तिकाल के उदय की मार्क्सवादी अवधारणा 5

अंजनी कुमार श्रीवास्तव 5

'FRAILTY! THY NAME IS NOT WOMAN' WITH THE REFERENCE OF DRAUPADI 18

Dr. Preeti Chaudhary 18

वेदों में नारी संक्षिप्त विश्लेषण 23

शोध्च्छात्रा शिव कुमार ;पीएच्.डी.द्ध 23

A COMPARISON OF COORDINATIVE ABILITY BETWEEN VOLLEYBALL AND HANDBALL MALE PLAYERS. 29

By Priya Lohchab 29

EDUCATIONAL PHILOSOPHIC OUTLINE OF AUROBINDO GHOSH 37

Sunil kumar 37

आधुनिक भारतीय समाज में गांधीजी की बुनियादी शिक्षा की उपादेयता 43

BIJENDER SINGH 43

उच्च शिक्षा में चुनौती एवं गुणवत्ता 50

अलका गुप्ता (प्रवक्ता बी.एड विभाग) 50

स्वामी विवेकानंद के विचारों की प्रासंगिकता 58

डॉ. विनीता अवस्थी 58

छत्तीसगढ़ की भुंजिया जनजाति का सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिणिक अध्ययन 63

सत्यजीत सिंह कोसरिया शोध छात्र 63

Need of training programs for library supportive staff: a study 75

Mrs. Nidhi Niwant Rakshikar 75

''सक्रिय अधिगम प्रविधि'' की प्रभावषीलता का अध्ययन : होषंगाबाद (म.प्र) के संदर्भ में 80

रश्मि शर्मा एवं आलोक शर्मा 80

हिन्दी महिला नाटकों में अभिनय और अभिनेयता की परिकल्पना 89

डॉ. थामस बाबु 89

भारतीय दर्शन परम्परा या मोक्ष स्वरूपम् 94

Virender Kumar 94

नगरीकरण एंव आर्थिक विकास 100

डॉ शमीम हैदर –अप्रकाशित शोधकार्य से..... 100
ARTICLE..... 104

भक्तिकाल के उदय की मार्क्सवादी अवधारणा

अंजनी कुमार श्रीवास्तव

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,

ज. ने. रा. म. पोर्ट ब्लेयर ।

मार्क्सवादी आलोचना में भक्तिकाल के उदय को पूंजीवाद से जोड़कर देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि व्यापारिक पूंजीवाद के उदय के साथ सामंतवादी ढाँचा टूटा जिससे भक्ति काव्यधारा के लिए जमीन तैयार हुई। इस संदर्भ में के. दामोदरन ने एंगेल्स के कथन का हवाला दिया है। एंगेल्स के अनुसार "मध्य युग ने धर्म–दर्शन के साथ विचारधारा के अन्य सभी रूपों, दर्शन, राजनीति, विधि–शास्त्र को जोड़ दिया और इन्हें धर्म–दर्शन की उपशाखाएँ बना दिया। इस तरह उसने हर सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन को धार्मिक जामा पहनने के लिए विवश किया। आम जनता की भावनाओं को धर्म का चारा देकर और सब चीजों से अलग रखा गया। इसलिए, कोई भी प्रभावशाली आन्दोलन प्रारंभ करने के लिए अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक था।"[1] इस पर टिप्पणी करते हुए दामोदरन कहते हैं "यह कथन चौदहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के काल के भारत पर भी समान रूप से लागू होता है।"[2] इससे मतलब यह निकलता है कि भक्ति आन्दोलन एक राजनीतिक–सामाजिक आन्दोलन था जो धार्मिक जामे में पेश किया गया था। लेकिन, ऐसा उसी दौर में क्यों हुआ, यह उत्तर इरफान हबीब से मिलता है।

[1]एँगेल्स, लुडविग फायरबाख, अध्याय–4, उद्धृत, के. दामोरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2001, पृ. 327

[2]के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पृ. 327

इरफान हबीब ने माना है कि तुर्क सल्तनत के स्थापित होने के बाद भारत में वस्त्र उद्योग, सिंचाई, लेखन सामग्री, वैज्ञानिक उपकरण तथा घुड़सवार सेना में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन हुए।[3] ऐसा माना जाता है कि इस परिवर्तन से कारीगरों की स्थिति में सुधार हुए। कारीगरों का जब उत्पादन बढ़ गया, तो उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हुई। आर्थिक स्थिति जब अच्छी हुई तब उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति के समतुल्य सामाजिक सम्मान पाने की कोशिश की। भक्ति आंदोलन इसी कोशिश की ऊपज थी या यों कहें कि धार्मिक जामे में पेश किया गया विद्रोह था। भक्ति आंदोलन के उदय की सामान्य मार्क्सवादी धारणा यही है। सामंतवाद के प्रति प्रतिक्रिया कहने से तात्पर्य है कि इस दौर में व्यापारिक पूंजीवाद का उदय हुआ। व्यापारिक पूंजीवाद ने सामंतवाद का ढाँचा तोड़ दिया। यह आधार या संरचना थी जिस पर भक्ति आंदोलन की अधिरचना खड़ी होती है। मुक्तिबोध से लेकर पुरूषोत्तम अग्रवाल तक का केन्द्र–बिन्दु यही है।

सामंतवाद के समय को लेकर एक विवादास्पद स्थिति रही है। भारत में सामंतवाद वास्तव में था अथवा नहीं उस पर भी विवाद है। रामशरण शर्मा के अनुसार "सामंतवाद की ठीक–ठीक परिभाषा कर पाना बहुत कठिन है। जिस प्रकार जितने समाजवादी हैं, समाजवाद की उतनी ही परिभाषाएँ मिलती हैं, उसी प्रकार सामंतवाद पर शोध करनेवाले जितने विद्वान हैं, उतनी ही तरह की इसकी व्याख्याएँ की गयी हैं। इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक विकास की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं के संदर्भ में किया जाता है। और ये अवस्थाएँ देश काल की दृष्टि से एक–दूसरे से काफी दूर पड़ती है।"[4] ऐसे में सामंतवाद के सैद्धांतिक विवाद में पड़ना अपने उद्देश्य से भटक जाना होगा। रामशरण शर्मा ने 300 ई.से लेकर 1200 ई. तक विविध चरणों में बाँट कर सामंतवाद का विवेचन किया है।[5] इसलिए इसे ही आधार मानकर विवेचन करना

[3]इरफान हबीब, प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और समाज, सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन भारत–1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1930, पृ. 24

[4]रामशरण शर्मा, भारतीय सामंतवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 11

[5]वही, देखें अध्यायों के शीर्षक

अनुपयुक्त न होगा। मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार सामंतवाद के बाद पूंजीवाद का आगमन होता है। रामशरण शर्मा भारतीय सामंतवाद के ह्रास (1200 ई.) के संदर्भ में लिखते हैं "पश्चिमी और मध्य भारत में वाणिज्य–व्यापार के पुनरूद्धार, मुद्रा के बढ़ते हुए चलन और विष्टि की प्रथा के विलय के परिणामस्वरूप वहाँ पुरातन सामंतवाद अपने चरम वैभव पर पहुँच कर ह्रासोन्मुख हो चला।"[6] श्री शर्मा इसमें तुर्क विजय को कोई श्रेय नहीं देते जो कि इरफान हबीब के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। वे स्पष्ट कहते हैं "भारत में पुरातन सामंतवादी अर्थव्यवस्था ने तुर्कों की भारत विजय से पहले की दो सदियों में अपना चरमोत्कर्ष भी देखा और क्रमिक ह्रास भी।"[7] हालांकि श्री शर्मा तुर्कों की भारत विजय से पहले की दो सदियों में व्यापारिक पुनरूत्थान के कारणों के प्रति आश्वस्त नहीं हैं,[8] पर 10वीं सदी से व्यापारिक गतिविधियों के तीव्र होने के बारे में उन्हें कोई संशय नहीं।[9]

लेकिन अगर ऐसा मान भी लिया जाए कि व्यापारिक पुनरोदय के कारण सामंती ढाँचा टूट रहा था तब भी यह कहना कि इसी से भक्ति काव्यधारा या भक्ति आंदोलन का विकास हुआ;उचित जान नहीं पड़ता। दक्षिण में भक्ति का उदय तब हुआ जब समाज कबीलाई से सामंती हो रहा था। पाँचवीं शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी तक का काल दक्षिण में सामंतवाद के विकास का काल माना जाता है। इसलिए यह एक सर्वथा विचित्र और उल्टी बात है कि दक्षिण में सामंतवाद के उदय के दौर में भक्ति आंदोलन पैदा हुआ और उत्तर में पूंजीवाद के उदय के दौर में। के. दामोदरन दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के उदय के संबंध में कहते हैं "आर्य और आर्येतर संस्कृतियों ने अवश्य ही एक दूसरे को प्रभावित किया था। ईसा पूर्व की पहली सहस्राब्दि के अंत में ही उनमें पारस्परिक संपर्क और संबंध नजर आते थे। और, इसवी सन् के

[6]वही, पृ. 237

[7]वही, पृ. 220

[8]वही, पृ. 211

[9]वही, पृ. 210

आरंभ में ये संबंध और भी दृढ़ हो गये। ऐसी परिस्थितियों में ही दक्षिण में जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार होने लगा। उन्होंने धर्म, साहित्य और संस्कृति को ही प्रभावित नहीं किया। अपितु राजनीति को भी प्रभावित किया। बहुत से राजाओं ने बौद्ध धर्म या जैन धर्म को अपनाया और विहारों के संरक्षक बन गये। परन्तु पाँचवीं और नौवीं शताब्दियों के बीच दक्षिण में सामंतवाद के उदय से हुए आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों से बौद्ध और जैन धर्मों का क्षय होने लगा। इसी काल में तीन सामन्तशाही राजकुल, अर्थात बदमी में चालुक्य, कांची में पल्लव और मदुरै में पाण्ड्य अपनी–अपनी पूर्ण सत्ता स्थापित करने के लिए जूझ रहे थे। इसी काल में शैव और वैष्णव जैसे हिन्दू धर्म के नये पंथ आगे आये, जिन्होंने बौद्ध और जैन धर्मों को निष्कासित कर दिया।"[10] इससे स्पष्ट लगता है कि दक्षिण भारत में वह परिस्थिति नहीं थी जो उत्तर में भक्ति आंदोलन के उदय के लिए जिम्मेदार मानी जाती है। इसलिए केवल आर्थिक आधार जिम्मेदार नहीं हो सकता है भक्ति आंदोलन जैसी किसी बड़ी परिघटना के लिए। फिर आरंभ में दक्षिण के शैवों या वैष्णवों में उस तरह की उग्रता नहीं देखी जाती जैसी कि उत्तर भारत के संतों में देखी जाती है। दक्षिण भारत के आलवारों और नायनारों में वेदादि का तिरस्कार नहीं वरन् समर्थन है। हिन्दी प्रदेश में भक्तिकाल का आरंभ मूर्तिभंजन से होता है दक्षिण में भक्ति आंदोलनका आरंभ मूर्ति–निर्माण से होता है। ऐसे में स्पष्ट है कि परिस्थितियाँ ही नहीं आर्थिक आधार भी अलग–अलग थे। दक्षिण भारत की भक्ति का वेदसम्मत स्वरूप निम्नलिखित पदों से स्पष्ट है:–

गृहस्थ धर्म नहीं हो तो संन्यास धर्म भी नहीं है,

यह कथन विश्वसनीय प्रमाण नहीं है,

जो सही धर्म है, जो चारों वेदों से उपादिष्ट है

वह नारायण ही है, कौन कहता है यह कथन ठीक नहीं।[11]

---

[10]के. दामोदरन, वही, पृ. 252–253

[11]सं. एन. सुन्दरम, दिव्य प्रबंध, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, 2004, पृ. 42–43

मैंने प्रभु के विषय में वेद से परे कुछ कठोर वचन कहे थे,

इससे प्रभु की महिमा को क्षति पहुँची है।

मैं चिरकाल से प्रभु की प्रतीक्षा में था।

वे मुझमें प्रविष्ट होकर वर प्रदान करेंगे ?[12]

रामशरण शर्मा व्यापार का पुनरोदय 10वीं सदी से मानते हैं जबकि हिन्दी साहित्य में भक्ति–आंदोलन हुआ 15वीं सदी में। इतने लम्बे अन्तराल के बाद व्यापारिक पूंजी का व्यापारिक पूंजीवाद में संक्रमण हुआ जिससे भक्ति काव्यधारा पैदा हुई उचित प्रतीत नहीं होता। पाँच सौ वर्षों का अंतराल कम नहीं होता। इसलिए विवेचन का यह आधार असंगत लगता है। 10वीं सदी से व्यापार का पुनरोदय और 15वीं सदी में भक्ति काव्यधारा का उदय–बीच के पाँच सौ साल मानो कुछ हों ही न। ऐसे में इस पर विचार करना जरूरी नहीं। पुरूषोत्तम अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'अकथ कहानी प्रेम की' में व्यापारिक पुनरोदय के साथ होनेवाले कुछ ठोस परिवर्तनों को लक्षित किया है और इस विकासक्रम में कबीर को देखा है। उनके अनुसार "दसवीं सदी से आरंभ हुए और कबीर के समय में काफी विकसित हो चुके व्यापारिक पुनरोदय की स्थितियों के फलस्वरूप देशभाषा में व्यक्त हो रही मनीषा का अधिकांश तो मनुवाद का तीव्र खंडन ही कर रहा था, संस्कृत चिंता में भी शास्त्र को 'अपडेट' करने की प्रक्रिया लगातार चल रही थी– शूद्रों के प्रसंग में भी, और ब्राह्मणों के प्रसंग में भी। मनु का निर्देश था कि अपराधी ब्राह्मण को भी बहुत नरम सजा दी जानी चाहिए, उसे प्राणदण्ड तो किसी भी स्थिति में नहीं दिया जा सकता। लेकिन जिस काल की बात हम कर रहे हें उसमें गौतमीय धर्मसूत्र पर भाष्य करते हुए हरदत्त व्यवस्था देते हैं कि सारे वैदिक संस्कार विधिपूर्वक करनेवाले ब्राह्मण को ही अवध्य माना जा सकता है, ब्राह्मणकुल में जन्में जिस–तिस को नहीं। 'विवाद रत्नाकर' के रचयिता चंडेश्वर अवध्यता के लिए इतनी कड़ी शर्त लगाते हैं कि किसी अपराधी ब्राह्मण

[12]वही, पृ. 31

का अवध्य होना असंभव हो जाए। उनके अनुसार केवल वही ब्राह्मण अवध्य है जो वेद–वेदांग, इतिहास–पुराण में पारंगत हो, शास्त्रानुकूल आचरण करता हो, षड्कर्म पालन करता हो; ऐसा ब्राह्मण भी तभी अवध्य है जबकि अपराध उससे गलती से हो गया हो। सोच–विचारकर अपराध करनेवाला ऐसा विद्वान, आचारनिष्ठ ब्राह्मण भी चंडेश्वर के अनुसार न तो अवध्य है, न उसे शारीरिक दण्ड से किसी छूट का अधिकार है। मनु के अनुसार ब्राह्मण को कठोरतम दंड देशनिकाले का ही दिया जा सकता था, वह भी उसकी संपत्ति जब्त किए बिना।"[13]

पुरूषोत्तम अग्रवाल व्यापार को केन्द्र में रखकर उससे पड़नेवाले प्रभाव को लक्षित कर रहे हैं जो महज देशभाषा में नहीं, संस्कृत की परम्परा में भी हुए। ब्राह्मण सर्वोच्चता की धारणा खंडित हो रही थी, ऐसा व्यापार के पुनरोदय से हुआ। लेकिन व्यापार का पुनरोदय हुआ अथवा व्यापार अपनी निरंतरता में चलता रहा इसके ठोस प्रमाण रामशरण शर्मा और पुरूषोत्तम अग्रवाल दोनों में नहीं मिलते। इसलिए 600 से 900 ई. तक व्यापार में क्या वास्तव में गतिरोध आया था, यह ठीक–ठीक नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में ऐसे संकेत दिए हैं जिनसे लगता है कि व्यापार की स्थिति संतोषजनक थी। जलमार्ग से व्यापार का भी पता काव्यमीमांसा से चलता है। जहाजी व्यापारियों के लिए उन्होंने 'सांयात्रिक' शब्द का प्रयोग किया है।[14] बी.डी. चट्टोपाध्याय ने ऐसे कई साक्ष्य दिए हैं जिनसे लगता है कि व्यापार में गतिरोध नहीं आया था। उन्होंने पृथुदक (च्तजीकां) नामक स्थल की पहचान की है जो 882–83 के अभिलेख के अनुसार एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। गुर्जर प्रतिहार दौर के इस क्षेत्र की पहचान वर्तमान हरियाणा के करनाल जिले के पेहोआ से की गयी है। यह जानवरों की खरीद–बिक्री के लिए प्रसिद्ध था। जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात इस क्षेत्र की थी वह थी घोड़े का व्यापार। घोड़े का यह व्यापार केवल स्थानीय व्यापार नहीं था वरन् सुदूर व्यापार के भी प्रमाण

[13]पुरूषोत्तम अग्रवाल, अकथ कहानी प्रेम की, पृ. 72

[14]राजशेखर, काव्यमीमांसा, उद्धृत, रामेश्वर प्रसाद शर्मा, राजशेखर और उनका युग, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1997, पृ. 180

मिलते हैं। लाहौर तक से यहाँ व्यापार होता था।[15] इस दौर में अनेक शहर भी थे जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि आंतरिक व्यापार की स्थिति मजबूत थी। 867 ई. से 904 ई. तक के दस अभिलेखों के आधार पर तत्तानन्दपुर नामक विकसित शहर की पहचान की गयी है जो गुर्जर–प्रतिहार साम्राज्य के अन्तर्गत था।[16] इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शहरों की भी पहचान की गयी है। कम–से–कम तीन क्षेत्रों–तत्तानंदपुर, सियाडोनी और गोपगिरि की पहचान शहर के रूप में की गयी है जो गंगा घाटी के अंतर्गत है।[17] इन आधारों पर बी.डी. चट्टोपाध्याय का निष्कर्ष है कि आंतरिक व्यापार की निरंतरता बनी हुई थी।[18]

इस प्रकार जब व्यापार की निरंतरता बनी हुई थी तब व्यापारिक पुनरोदय की बात ही असंगत हो जाती है। इस दशा में वे सारे सिद्धांत अप्रासंगिक हो जाते हैं जो व्यापार या व्यापारिक पूंजीवाद के उदय से संरचना में परिवर्तन और फिर धार्मिक जामे में विद्रोह को भक्ति काव्यधारा की संज्ञा देते हैं। इरफान हबीब भी पूंजीवाद के उदय की धारणा का खण्डन अपने तरीके से करते हैं। उनके अनुसार सामंतवाद वास्तव में तुर्क–सल्तनत की स्थापना के बाद आया। उनकी धारणा से अगर दक्षिण की भक्ति काव्यधारा के उदय के समय के सामंती दौर और उत्तर के सामंती दौर में साम्य दिखा दिया भी जाए, तो सामंतवाद के प्रतिरोध में भक्ति के उदय की धारणा खंडित हो जाती है। रामशरण शर्मा जिस दौर को सामंती कहते हैं उसे इरफान हबीब अस्वीकार करते हैं– "सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक की अवधि को 'सामंती युग' कहने की व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। जब कुछ इतिहासकार ऐसा कहते हैं, तो लगता है कि उनके दिमाग में राजतंत्रीय शक्ति के पतन तथा उस अवधि की राजव्यवस्था की पहचान करानेवाले विभिन्न कोटियों (श्रेणियों) के सामंतों के उदय से अधिक कुछ नहीं है। परन्तु सुझाव दिए गए हैं कि कृषि भूमि संबंधों की संरचना में भी कुछेक ऐसे तत्त्वों की खोज

[15] B. D. Chattopadhyaya, The Making of Early Medieval India, Oxford, Delhi, 1994, p.133

[16] Ibid., p.134

[17] Ibid., p.140

[18] Ibid., p.145

हो सकती है जिन्हें (बेहतर शब्द उपलब्ध न होने के कारण) हम 'सामंती' की संज्ञा दे सकते हैं।"[19] सामंती युग को मध्यकाल की संज्ञा दी जाती है। इरफान हबीब के अनुसार यह तुर्क सल्तनत के साथ शुरू हुआ– "ऐसा कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में मुहम्मद गोरी की विजय से, जिससे दिल्ली में सुलतानों के राज्य (1206–1526) की स्थापना हुई, भारत में मध्यकाल की असली शुरूआत हुई। इसके बाद हमारे पास सही अर्थ में ऐतिहासिक ग्रंथ उपलब्ध होने लगे हैं, और पहली बार संबंधित काल का वर्णनात्मक इतिहास मिलना संभव हुआ है। परन्तु ऐतिहासिक अभिलेख के स्वरूप में सुधार होने के अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं, जो तेरहवीं शताब्दी को भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण विभाजन रेखा–सी बनाते हैं।"[20]

तेरहवीं शती वह कौन–सी महत्त्वपूर्ण विभाजन रेखा पैदा करता है, इस बारे में इरफान हबीब का मानना है कि अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में जमीन की पैमाइश हुई और संभवतः माप की सन्निकटता के आधार पर गणना करके क्षेत्रफल की प्रत्येक इकाई पर उपज या माल के रूप में टैक्स या कर लगाया गया। चाहे फसल का उत्पादन जो भी हो। कुछ विशेष क्षेत्रों (जिन्हें इक्ता कहा जाता था) का राजस्व सेनापति या दूसरे लोग वसूल करते थे। जबकि सुल्तान द्वारा सीधे जिन क्षेत्रों का राजस्व वसूल किया जाता था उसे खालिसा कहते थे।[21] इस व्यवस्था ने राजस्व में वृद्धि की जिससे वाणिज्यिक विकास भी हुआ। इरफान हबीब लिखते हैं:

> राजस्व की जबर्दस्त वसूली के परिणामस्वरूप देहात से बड़ी मात्रा में अनाज तथा दूसरे उत्पादों के निर्यात से विशेषीकृत अनाज से सौदागारों के (कारवानी, जिन्हें बाद में बंजारा कहा जाने लगा) वर्ग का भरण–पोषण हुआ। हमारे ऐतिहासिक अभिलेख में पहली बार यह वर्ग प्रकट होता है। इसके दूसरी ओर, यह कहा जाता है कि दिल्ली के मुलतानी (हिंदू सौदागर) तथा शाह (साहूकार) तुर्की रइसों अमीरों को उनके इक्ताओं के राजस्व पर ड्राफ्ट

[19]इरफान हबीब, ब्रिटिशपूर्व भारत में भूसंपत्ति का सामाजिक वितरण, सं. इरफान हबीब, मध्यकालीन भारत, अंक–2, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1982, पृ. 35

[20]वही, पृ. 38

[21]वही, पृ. 39

के आधार पर बहुत बड़े कर्ज देकर बहुत धनी हो गये। इस प्रकार कहा जाता है कि इक्ता व्यवस्था ने मध्यकालीन वाणिज्यिक विकास की गति तीव्र रूप में बढ़ा दी।

इक्तादारियों के राजस्व के रूप में ग्रामीण उत्पादन के बहुत बड़े भाग का प्रवाह कस्बों की ओर तीव्र वेग से हुआ। इस प्रवाह ने बड़ी आबादी वाले कस्बों को जन्म देने में सहायता की। कस्बों में कारीगरी और हस्तकौशल भी आगे बढ़े। अमीर वर्ग के लोगों की मांगे इतनी बढ़ गयीं कि बहुत बड़ी संख्या में गुलामों को कारीगरों के तौर पर प्रशिक्षित किया गया, और सुलतानों तथा संभवतः अमीरों ने बड़े कारखाने (वर्कशापों) का रख–रखाव किया जिनमें स्वतंत्र तथा परतंत्र दोनों किस्म के कारीगर उनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए काम करते थे।[22]

तेरहवीं शती को जहाँ इतना अधिक महत्त्व इरफान हबीब देते हैं, सतीशचन्द्र कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस दौर में लक्षित नहीं करते। सतीशचन्द्र के अनुसार "13वीं सदी के दौरान ग्रामीण समाज के ढाँचे में शायद ही कोई परिवर्तन हुआ। आरंभिक तुर्क शासक भू–राजस्व की वसूली के लिए हिन्दू सरदारों का सहारा लेते थे और प्रचलित प्रथाओं के अनुसार किसानों से उसकी वसूली करने का दायित्व उन्हीं को सौंपा हुआ था। पुनः इससे इस बात का पता नहीं चलता है कि किसानों से वस्तुतः कितने भू–राजस्व की माँग की जाती थी। .... हमें पता नहीं है कि इसको किस प्रकार लागू किया गया। सामान्यतः भू–राजस्व की दर का निर्धारण इस तरह से हुआ कि प्रचलित ग्रामीण ढाँचे में कोई व्यतिरेक न पैदा हो।"[23] इस तरह इरफान हबीब में दिल्ली सल्तनत को लेकर पूर्वग्रह है जो उन्हें इस तरह के निर्णय देने पर बाध्य करता है कि तुर्कों के सत्ता में आने के बाद महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। वस्तुतः तुर्क सल्तनत को लेकर बिल्कुल भिन्न और कई तरह के अतिवादी विचार हैं। एक मत है कि तुर्कों ने आर्थिक जीवन एवं सामाजिक–सांस्कृतिक ढाँचे को इतनी अधिक क्षति पहुँचाई कि यह काफी समय बाद मुगल काल में ही सँभल सका। यहाँ तक कि यह भी कहा गया कि उत्तरी भारत की आबादी

[22]वही, पृ. 42

[23]सतीशचन्द्र, मध्यकालीन भारत (प्रथम भाग), जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2001, पृ. 147

भी कम हो गयी। इसी तरह का एक अतिवादी विचार है कि तुर्क सल्तनत के आगमन से दूरगामी सकारात्मक परिवर्तन हुए जिससे नगरों का विस्तार हुआ एवं भूमि संबंधों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।[24] इरफान हबीब ने इस संदर्भ में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन का भी उल्लेख किया है, जिस पर विचार आवश्यक है।

वस्त्र उद्योग में इरफान हबीब चरखा और कमानी का आगमन तुर्क सलतनत की स्थापना के बाद मानते हैं, जिस पर टिप्पणी करना बिना किसी प्रबल प्रमाण के संभव नहीं है। यह इतिहासकारों का क्षेत्र है, लेकिन चित्रों और मूर्तियों के आधार पर उनकी यह टिप्पणी असंगत लगती है कि तुर्कों के आगमन से पूर्व लोग कपड़े कम पहनते थे। 1000 ई. से 1500 ई. के बीच चरखे और कमान की ताँत से कपड़ों की मात्रा में वृद्धि हुई।[25] भले मूर्तियों और चित्रों में कम कपड़ों के प्रमाण मिलते हों, पर भारत में बहुत प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था। हर्षचरित और अलबरूनी के यात्रा–विवरण से यह स्पष्ट है। हर्षचरित के चौथे और सातवें उच्छ्वास में वाण ने वस्त्रों का वर्णन किया है जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे। वाण ने रंगाई और छपाई दोनों का वर्णन किया है। उसने छः प्रकार के वस्त्रों का जिक्र किया है– क्षौम, बादर, दुकूल, लालातन्तुज, अंशुक और नेत्र। क्षौम क्षुमा या अलसी के रेशों से तैयार होने वाले वस्त्र थे, जो सामान्यतः असम में बनते थे। दुकूल बंगाल से बनकर आता था। दुकूल को काटकर उत्तरीय, साड़ियाँ, चादर, तकियों के गिलाफ आदि बनाने का जिक्र हर्षचरित में है। लालातन्तुज, नेत्र और अंशुक रेशमी वस्त्र माने जाते थे।[26] राजाओं की वेशभूषा के अंतर्गत वाण ने तीन प्रकार के पाजामों–स्वस्थान, पिंगा और सुतला तथा चार प्रकार के कोटों–कंचुक, चीनचोलक, वारबाण एवं कूर्पासक का वर्णन किया है। स्वस्थान पिंडलियों पर कसा हुआ पाजामा होता था जबकि पिंगा नीचे पिंडलियों तक लम्बा ढीला–ढाला वस्त्र होता था। सतुला घुटनों के ऊपर तक का पहनावा था। कंचुक पैरों तक लम्बा बाँहदार कोट था जिसका गला

[24]वही, पृ. 143–44

[25]इरफान हबीब, प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और समाज, पृ. 28

[26]वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1999, पृ. 74–79

सामने बंद रहता था। वारबाण भी कंचुक की तरह ही पहनावा होता था, पर यह घुटनों तक ही लम्बा होता था। चीनचोलक सब प्रकार के वस्त्रों कंचुक और वारबाण के ऊपर पहना जाता था। इसके अतिरिक्त एक और वस्त्र कूर्पासक भी था जो आस्तीनरहित कटि से ऊँचा रहता था।[27] इससे लगता है कि भारत में खूब वस्त्र पहने जाते थे। तुर्क सल्तनत के पहले भी बड़े पैमाने पर वस्त्रों के उत्पादन की इससे सूचना मिलती है। 11वीं शताब्दी के भारत में वस्त्रों पर टिप्पणी अलबरूनी ने भी की है। अलबरूनी लिखता है :

> वे पाजामे के लिए धोती का इस्तेमाल करते हैं। जो कम कपड़े पहनना चाहते हैं वे दो अंगुल चौड़ा लत्ता डोरी से अपनी कमर में बाँध लेते हैं, लेकिन जो उससे अधिक वस्त्र पसंद करते हैं वे धोती पहनते हैं। जिनमें इतना अधिक कपड़ा लगता है जिससे कई चादरें और कंबल बन जाएँ। यह धोती कहीं से खुली हुई नहीं होती और वह इतनी लम्बी होती है कि उनके पैर तक ढक जाते हैं। जिस नारे से वह बाँधी जाती है वह पीछे की ओर होता है।
>
> उनका 'सिदर' जिससे वे अपना सिर, वक्ष का ऊपरी भाग और गर्दन ढकते हैं, पाजामे जैसा होता है जिसमें पीछे की ओर बटन लगते हैं। उनकी कुर्तका (जो स्त्रियों का एक पहनावा है जो कंधे से शरीर के मध्य भाग तक आस्तीनों वाली होती है) के पल्ले में दाहिनी और बायीं दानों ओर चीर होते हैं।[28]

अतः यह धारणा निराधार है कि भारत के लोग कम वस्त्रों का प्रयोग करते थे और तुर्क सल्तनत के बाद लोगों ने ठीक से कपड़ा पहनना शुरू किया। सिंचाई के संबंध में रहट के प्रयोग को इरफान हबीब ने तुर्क सल्तनत के बाद भारत में आया माना है।[29] लेकिन राजशेखर की काव्य मीमांसा में सिंचाई के लिए घटिकावलय का प्रयोग हुआ है।[30] संभव है कि यह रहट

---

[27]वही, पृ. 171–54

[28]सं. कयामुद्दीन अहमद, भारत : अल–बिरूनी, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2009, पृ. 80–81

[29]इरफान हबीब, वही, पृ. 29

[30]राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय –18, पृ. 217 (उद्धृत), रामेश्वर प्रसाद शर्मा, राजशेखर और उनका युग, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1977, पृ. 276

ही हो। अगर रहट न भी हो, तो 'रहट' नामक यंत्र से कोई बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार भारत में आंतरिक व्यापार में एक अविच्छिन्नता दिखती है और तुर्क तथा मुगलों के आने के बाद भी कोई बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस क्षेत्र में नहीं दिखता। निरंतरता के बजाय परिवर्तन पर जोर देने की प्रवृत्ति के कारण इस तरह के निष्कर्ष दिये गये हैं। परिवर्तन एक सतत प्रक्रिया है जो चलती रहती है, लेकिन इससे इस तरह के निष्कर्ष नहीं दिये जा सकते कि 10वीं सदी के बाद भारत में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया, क्योंकि व्यापार का पुनरोदय हुआ अथवा तुर्क सल्तनत के आगमन के बाद क्रांति आ गयी। इतिहासकारों के साथ समस्या है कि जिसे प्रारंभिक मध्यकाल कहा जाता है उसके बहुत कम विवरण उपलब्ध हैं। तुर्क सल्तनत के बाद या उसके थोड़े पहले से विवरण मिलने लगते हैं। विवरणों के न मिलने की स्थिति को व्यापार आदि का अन्तराल समझना उचित प्रतीत नहीं होता।

भक्तिकाल में कबीर, नानक आदि कवियों में वर्णव्यवस्था के प्रति जो प्रतिरोध और सामाजिक असंतोष प्रकट होते हैं वे पूर्ववर्ती सिद्धों में भी थे और नाथों में भी। निर्गुण कवियों में ये संस्कार उसी परम्परा से आये हैं। अगर सामंतवाद के प्रतिरोध मात्र को केन्द्र में लिया जाएगा, तो उससे सिद्ध, नाथ और संत कवि सब एक ही धारा में जान पड़ेंगे। इससे भक्ति काव्यधारा की विशेषता की व्याख्या करना संभव नहीं है। भक्ति एक सर्वथा भिन्न चीज है जो सिद्धों और नाथों में नहीं है। इस भक्ति का व्यापक प्रसार और प्रचार तथा स्वीकृति के संदर्भ में व्याख्या करने में मार्क्सवादी अवधारणाअपर्याप्त सिद्ध होती है।

वस्तुतः सामंतवाद के प्रति प्रतिक्रिया का मत केवल भक्त कवियों में निहित समाज व्यवस्था के प्रति असंतोष को– मात्र एक पक्ष को पकड़ पाता है। इससे यह भी व्याख्या नहीं हो पाती कि अगर व्यापारिक पुनरोदय 10वीं सदी में ही हुआ था, तो पूर्ववर्ती परम्परा के कवियों सिद्धों

आदि (8वीं सदी) में भी प्रतिरोध की धार प्रखर क्यों है ? अगर संरचना या आधार अधिरचना की निर्मिति कर रहा है तो कविता (अधिरचना) देखकर भी ऐसा कहा जा सकता है कि व्यापार का पुनरोदय नहीं हुआ, निरंतरता बनी हुई थी। सरहपा, कण्हपा आदि सिद्ध तथा गोरखनाथ इसी कारण एक प्रतिरोध की संस्कृति विकसित कर रहे थे। जैसे ही हम निरंतरता की बात करते हैं, भक्ति की विशेषीकृत स्थिति का विवेचन इससे असंभव जान पड़ने लगता है। अगर किसी तरह हम निरंतरता को खंडित कर व्यापारिक पुनरोदय की धारणा को स्वीकार भी कर लेते हैं, तब भी इस बात की व्याख्या नहीं हो पाती कि भक्ति के आवरण में ही प्रतिरोध क्यों हुआ?